Journal of Advances and Scholarly Researches in Allied Education

Vol. IV, Issue VIII, October-2012, ISSN 2230-7540

REVIEW ARTICLE

उपन्यास–नारी के मन और मस्तिष्क का द्वन्द्व :

www.ignited.in

Journal of Advances and Scholarly Researches in Allied Education
Vol. IV, Issue VIII, October-2012, ISSN 2230-7540

उपन्यास–नारी के मन और मस्तिष्क का द्वन्द्व :

Dr. Sudesh Rani

Bed, M.Phil, P.hd in Hindi

----------♦----------

सतत् परिवर्तनशील समय की निर्बाध धारा में प्रवाहित व्यक्ति के अस्तित्व की रक्षा संबंधी प्रयत्नों विविध स्थिति विशेषों में उसकी मानसिकता और प्रतिक्रियाओं, उसके सुख–दुःख, स्वार्थ और त्याग से संबंद्ध जीवन चित्रों को प्रभावपूर्णता के साथ उपस्थित करने वाली साहित्य–विधा '' उपन्यास '' ही है। जीवन को उसकी संपूग्रता के साथ ग्रहण करने और अभिव्यंजित करने की शक्ति उपन्यास में है, ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से लेकर मनोवैज्ञानिक धरातल पर तक प्रणीत होकर उपन्यास ने मानव–जीवन की बहु–आयामिता को अनायास ही सिद्ध कर दिया। समाज को अपने सम–सामयिक परिवेश में रूपायित करने के संदर्भ में उपन्यास अन्य विधाओं की तुलना में कहीं अधिक प्रभावपूर्ण और आगे रहा। जीवन के संपूर्ण चित्र को उपस्थित करने के प्रयत्न में आरम्भिक हिन्दी उपन्यास ने बृहदाकृती ग्रहण की, परन्तु संप्रति उपन्यास इतने लघुत्तम रूप में प्रणीत हो रहे हैं कि कुछ दिनों से लेकर कुछ घण्टों तक में घटित घटनाओं के दायरे में जीवन की संपूर्णता को परिभाषित और विश्लेषित करने के उपक्रम लक्षित हो रहे हैं। पाठकों की परिवर्तित मानसिकता जीवन में बढ़ती व्यस्तता और संघर्ष की स्थिति, लेखकीय प्रतिबद्धता, साहित्य जगत में बढ़ती व्यापारिक प्रतिद्वन्द्विता ऐसे कतिपथ अंश है, जिनके प्रभाव से उपन्यास के कथ्य और शिल्प में रेखांकन योग्य परिवर्तन घटित हुए। जीवन की संपूर्णता और यथार्तता के अतिनिकट रहने के कारण उपन्यास ने व्यक्ति के बाह्य और अंतर्द्वन्द्व को पूरी सजीवता के साथ साकार किया है। जीवन की अपर संज्ञा संघर्ष होने के कारण उसका चित्रण करते समय उपन्यासकारों ने बड़ी सतर्कता से काम लिखा, क्योंकि एक व्यक्ति से दूसरे तक आते–आते–संघर्ष के स्थिति–विशेष, प्रतिक्रियायें और पर्यवसार नितांत भिन्न हो जाते हैं। इन संघर्ष विशेषों में भी हमारा आलोच्य विषय इस अनुखण्ड में स्वतंत्रता पूर्ववर्ती उपन्यासों के नारी पात्रों के मन और मस्तिष्क के द्वन्द्व से संबंद्ध है। एक व्यक्ति विशेष का किसी वर्ग, जाति, धर्म, सामाजिक दुराचार, आर्थिक शोषण के संदर्भ में जिस प्रकार संघर्षरत होना पड़ा और जिसका वर्णन स्वतंत्रता पूर्ववर्ती उपन्यास साहित्य में हुआ, उसी विस्तृति के साथ नारी के मन और मस्तिष्क के द्वन्द्व का चित्रण नहीं हुआ। इसका मुख्य कारण यह माना जा सकता है कि प्रेमचन्द पूर्व प्रणीत सभी तिलस्मी और अध्यारी उपन्यासों को ताक पर रख दिया जाय, तो बचे हुए अधिकांश उपन्यासों में लेखकों का उद्देश्य भारतीय परम्पराओं के अनुरूप नारी को पातिव्रत्य धर्म और सतीत्व रक्षा की शिक्षा देना ही प्रतीत होता है। अतः उन्हें नारी के अंतस की गहनता को मापने का न अवसर मिला न यह तथ्य उन्हें सूझा और न ही उन्हें यह आवश्यक महसूस हुआ। प्रेमचन्द और उनके समकालीन उपन्यासकार नारी जीवन की पारिवारिक, सामाजिक और आर्थिक समस्याओं को सुलझाने में व्यस्त रहे। इसीलिए प्रेमचन्द यगीन उपन्यासों में नारी मानसिकता से संबंद्ध अंतर्द्वन्द्व और विभिन्न प्रतिक्रियाओं के सांकेतिक चित्र मात्र प्रस्तुत हुए हैं। मानवता के अमर साहित्यकार प्रेमचन्द में अपार अनुभव, सूक्ष्मदर्शिताशिक्ति, अद्वितीय प्रतिभा तथा हृदय भेदी अंतर्दृष्टी थी किन्तु मनोवैज्ञानिक विचारधाराओं से अपरिचित होने तथा यथार्थ और आदर्श को लेकर चलने के कारण वे अपने उपन्यासों के समस्त रूप से मनोवैज्ञानिक तथ्यों का समावेश नहीं कर पाये। फिर भी इतना उन्होंने अनजान में किया वह हिन्दी के मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की पृष्ठभूमि के लिए पर्याप्त है। इसी धरातल पर आगे चलकर जैनेन्द्र, अज्ञेय, भगवतीचरण वर्मा, इलाचन्द्र जोशी, हजारीप्रसाद द्ववेदी, धर्मवीर भारती, मोहन राकेश, उषा प्रियवंदा, शिवानी, मन्नू भंडारी जैसे अनेक लेखक अपनी कृतियों में नारी मानसिकता की जटिलताओं और उसके मन एवं मस्तिष्क के द्वन्द्व को साकार करने में प्रयत्नशील रहे। इस अनुखण्ड में स्वतंत्रता पूर्ववर्ती उपन्यासों में प्राप्त नारी के उक्त अंतर्द्वन्द्व के अन्वेषण और विश्लेषण का प्रयत्न किया गया है।

चाहे नारी हो या पुरूष व्यक्ति के रूप में किसी की वास्तविक पहचान परिवार के दायरे में जितनी स्पष्ट एवं सटीक होती है, वैसे अन्यत्र नहीं, क्योंकि यह परिवार ही समाज की सशक्त नींव और उत्कृष्ट इकाई है। स्वतंत्रता से पूर्व और स्वतंत्रता के बाद के पारिवारिक ढाँचे में अत्याधिक परिवर्तन लक्षित होते हैं। स्वतंत्रता के उपरांत समिष्टि परिवारों की विघटन क्रिया गति पकड़ती गयी। इस पारिवारिक विघटन का प्रभाव पुरूष की अपेक्षा नारी पर ही अधिक पड़ा।

स्वतंत्रता पूर्ववर्ती पारिवारिक ढाँचे में नारी के दायित्व, समस्यायें और विषमतायें कहीं अधिक थीं। शिक्षा ग्रहण करने के अवसर के साथ–साथ अपनी यतार्थ स्थिति को समझने की बिन्दु पर नारी पहुँच तो सकी, परन्तु पुरूष–प्रवृत्ति में कोई अत्याधिक गुणात्मक परिवर्तन नहीं आये। परिवार में नारी और पुरूष दोनों की समान भागीदारी होती है, मात्र दायित्व ही भिन्न प्रकार के होते हैं। एक ओर नारी उत्थान विषय पर जोरदार व्याख्यान देने वाले पुरूष अपनी अंतर प्रवृत्ति के धरातल पर प्राचीन और सामंतवादी परम्पराओं से आबद्ध ही रहे।

अपने इस स्वार्थ परक और षडयंत्रपूर्ण नारी–विरोधी अभियान के लिए उन्होंने धार्मिक संबल ग्रहण किया, जैसे शिवरानी देवी प्रेमचन्द का मानना है कि '' स्त्रियों पर सब से ज्यादा जादती हिन्दू ही करते हैं, जरा सी भूल हो गई, उसको घर से निकाल बाहर किया। और पुरूष तो शुरू से ही स्त्रियों के साथ जादती करता आ रहा है। अपनी मर्जी के मापिक कायदा कानून भी तो पुरूष ने अपने लिए बना रखे हैं। बहु–विवाह, बृद्ध–विवाह पुरूष ही करते हैं। तब आखिर इतनी स्त्रियाँ कहाँ जायेगी ? और समाज ने सारी जिम्मेदारी स्त्रियों के ही सर पटक दी है। ऐसा मालूम होता है कि सारे बंधन स्त्रियों के लिए ही हैं। उससे पुरूषों को कोई बहस नहीं है। सारे कायदा–कानून अपने से उल्टे ही स्त्रियों के लिए बनाये हैं। अपने आपको उनके शिकंजों से बचाकर ही रखा।'' इसीलिए शिक्षिता होते हुअ भी नारी पत्नि

अथवा पुत्री के रूप में अपने ही परिवार में कोई आदर के पात्र स्थान नहीं बना सकी। सुखमय पारिवारिक जीवन के आधारभूत तत्व प्रेम और आपसी विश्वास है और इन्हीं के संदर्भ में नारी अक्सर प्रवंचिता होती रही। एक ओर शिक्षा और परिभ्रात्य सभ्यता के प्रभाव से नारी में बुद्धिवादिता के नये बीज पनपने लगे तो दूसरी ओर उसका हृदय अपनी सहज पारिवारिक स्थिति में ही आदर पाने की अपूर्ण लालसा से जूझ रहा था। विरोधी विचारों की यही टकराहट नारी के पत्नि रूप में प्रथमतः प्रेमचन्द की रचनाओं में रूपायित हुआ। नारी के पत्नि रूप में ही इस मन और मस्तिष्क के द्वन्द्व का मूल कारण '' प्रेमचन्द्रयुगीन उपन्यासों में नारी का चित्रण मुख्यतः पत्नि के रूप में आया है। प्रेयसी और माता का रूप गौण ही है।

अपने पति से प्रेम और विश्वास करके ही वह सफल है। इन दोनों को खोकर वह भटक जाती है।'' नारी की यह भटकन स्वल्पकालीन ही क्यों न हो, परन्तु वह नारी के उक्त अंतर्द्वन्द्व का ही स्पष्ट संकेत देती है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि नारी के मन और मस्तिष्क का यह द्वन्द्व अपने हल्के से रूप में ही सही प्रेमचन्द की लेखनी से उपन्यास विधा में सृजन का श्रेय पाया।

हृदय तत्व और बुद्धितत्व के प्रतीक मन और मस्तिष्क का द्वन्द्व '' गोदान '' के एक प्रमुख पात्र गोविन्दी (मिसेज खन्ना) के चरित्र में लक्षित होता है। मि. खन्ना की पत्नि शिक्षिता, रूपवती और तीन बच्चों की माँ गोविन्दी के पारिवारिक दायरे में भौतिक सुख–संसादनों की कोई कमी नहीं है, यदि कोई कमी है, तो वह एक पत्नि द्वारा सर्वदा अपेक्षित पति–प्रेम की। प्रेमचन्द्र के शब्दों में गोविन्दी आदर्शपूर्ण नारीत्व धर्म की सजीव प्रतिमा है। मालती के प्रति पति के आकर्षण के संकेत और पारिवारिक दायित्वों के प्रति पति के उपेक्षापूर्ण व्यवहार गोविन्दी में विद्रोह की भावना को जागृत करते हैं परिणामतः वह अपने बच्चों को लेकर घर से निकल जाती है और एक पार्क में जा बैठती है। यहीं पर उसके मन और मस्तिष्क का द्वन्द्व उभरकर सामने आता है। सहसा मेहतीा का पार्क में पहुँचना और गोविन्दी के साथ वार्तालाप के प्रसंग में गोविन्दी का अंतर्द्वन्द्व पूर्णतः मुखरित हुआ है। मेहता का नारीत्व धर्म के प्रति श्रद्धदापूर्ण उद्‌गारों की अभिव्यक्ति हृदय तत्व की गरिमा का ही घोतन है, जिसके उत्तर में गोविन्दी का अंतर्द्वन्द्व इन व्यंग्यपूर्ण शब्दों में मुखरित हुआ है, यथा – नहीं मेहताजी यह आपका भ्रम है। ऐसी नारियाँ यहाँ आपको गली–गली में मिलेंगी और मैं तो उन सब से गयी–बीती हूँ। जो स्त्री अपने पुरूष को प्रसन्न न रख सके, अपने को उसके मन की न बना सके, वह भी कोई स्त्री है ?''[1] मेहता के मतानुसार विलास को तुच्छ समझना उपेक्षा और अनादर सहकर भी कर्तव्य से च्युत न होना, मातृत्व की वेदी पर बड़े से बड़े बलिदान देने के लिए सन्नद्ध रहना, त्याग को ही अपना बहुत बड़ा अधिकार मान सकना नारी के सहज, परन्तु उत्कृष्ट आदर्श हैं। इस मत से गोविन्दी कतई संतुष्ट नहीं है, उसे यह सब कुछ निरी आदर्शवादिता और बुद्धिवादी प्राधान्य वर्तमान सभ्यता में अनुपयुक्त और असामंजस्य प्रतीत होता है। इसीलिए वह कहती है– लेकिन वह आदर्श इस युग के लिए नहीं है। वह आदर्श सनातन है और अमर है। मनुष्य उसे विकृत करके अपना सर्वनाश कर रहा है।''[2] गोविन्दी इस तथ्य का भी संकेत देती है कि वर्तमान बुद्धिवादी प्रवृत्ती नारी के हृदयतत्व को ही नहीं, मूर्खतावश स्वंय को भी विनष्ट करने पर तुला हुआ है, क्योंकि बुद्धिवाद मानवीय भावनाओं के समन्वित रूप को दुर्बलता का प्रतीक मान बैठने की बड़ी भारी भूल कर चुका है। यदि गोविन्दी में बुद्धिवाद का प्राधान्य होता, तो वह अपने दुधमुहें बच्चे को साथ लेकर घर से नहीं निकलती, परन्तु बुद्धिवाद का तार्किक तत्व उसे गृह त्यागने की प्रेरणा इस रूप में देता है, जैसे अब पति की उपेक्षा और अनादर सहना उसके संयम की सीमा को पार कर चुका है। इसलिए वह दिखा देना चाहती है कि नारी सर्वदा आश्रिता और शोषिता रहने के लिए विवश नहीं है, वह स्वावलम्बिनी भी हो सकती है, परन्तु इसी प्रसंग में गोविन्दी अपने इस अंतर्द्वन्द्व को सह न सकने की दुर्बलता को अपने इन शब्दों में अभिव्यक्त करती है यथा– '' हाँ, आपके सिवा मुझे कोई ऐसा नहीं नजर आता, जिसे मैं अपनी कथा सुनाऊँ। देखिए, यह बात अपने ही तक रखिएगा, हालांकि आपको यह याद दिलाने की जरूरत नहीं, मुझे अब अपना जीवन असह्य हो गया है। मुझसे अब तक जतनी तपस्या हो सकी, मैंने की, लेकिन अब नहीं सही जाता। मालती मेरा सर्वनाश किए डालती है। मैं अपने किसी शस्त्र से उस पर विजय नहीं पा सकती। आपका उस पर प्रभाव है। वह जितना आपका आदर करती है, शायद और किसी मर्द का नहीं करती। अगर आप किसी तरह मुझे उसके पंजे से छुड़ा दें, तो मैं जन्म–भर आपकी ऋणी रहूँगी। उसके हाथों मेरा सौभाग्य लुटा जा रहा है। आप अगर मेरी रक्षा कर सकते हैं, तो कीजिए। मैं आज घर से यह इरादा करके चली थी कि फिर लौटकर न आऊँगी। मैंनं बड़ा जोर मारा कि मोह के सारे बन्धनों को तोड़कर फेंक दूँ। लेकिन औरत का हृदय बड़ा दुर्बल है मेहताजी! मोह उसका प्राण है। जीवन रहते मोह तोड़ना उसके लिए असम्भव है। मैंने आजतक अपनी व्यथा अपने मन रखी, लेकिन आज मैं आपसे आंचल फैलाकर भिक्षा माँगती हूँ। मालती से मेरा उद्धारा कीजिए। मैं इस मायाविनी के हाथों मिटी जा रही हूँ।''[1] गोविन्दी से उक्त कथन में मालती के लिए मायाविनी का जो शब्द प्रयुक्त हुआ है, वास्तव में वह पाष्चात्य सभ्यता के प्रभाव से नारी में बढ़ती बुद्धिवादिता का संकेत है। जब नारी चरित्र में मस्तिष्क का प्राधान्य बढ़ जाता है, तब उसके हृदय तत्व का त्रस्त होना अत्यंत सहज बात है, परन्तु इस प्रसंग में बार–बार मेहता के शब्दों में जिस प्रकार नारी को अपने हृदय तत्व को सुरक्षित रखने एवं उसी को जीवन की सुदृढ़ आधारषिला के रूप में सिद्धू किया गया है। तब अंतर्द्वन्द्व की स्थिति में बच्चे तक को साथ लेकर गृह त्यागने वाली गोविन्दी का पुनः गृहोन्मुख होना समोचीन ही है।

अंतर्द्वन्द्व के इस प्रसंग में प्रेमचन्द्र ने हृदय तत्व को विजय घोषित करने के लिए उसे पुनः उसके सहज पारिवारिक परिवेष में पूर्ण सफलता के साथ प्रतिष्ठित कर दिया है। उपेन्द्रनाथ अष्क के उपन्यास '' सितारों के खेल '' की एक प्रमुख पात्र '' लता '' भी पूर्व कथित इसी अंतर्द्वन्द्व से जूझती प्रतीत होती है। सहृदयतापूर्ण प्रेम की उपेक्षा करना नारी की सहज प्रवृत्ती का प्रधान गुण है। इसी प्रेम की अपेक्षा में तीन–तीन पुरूषों से परिचित होकर भी लता अपनी अच्छापूती। में विफल हो जाती है। वह प्रथमतः कॉलेज में जगत के प्रति सहजता के साथ हाथ बढ़ाती है, परन्तु तिरस्कृत होकर कुण्ठाग्रस्त होती है। इसी समय बंषीलाल उसका प्रेम पात्र बनना चाहता है, परन्तु लता की कुण्ठित मानसिकता उसका तिरस्कार करती है और बंषीलाल आत्मघात के प्रयत्न में अपाहिज हो जाता है। जगत के साथ के प्रेम–प्रसंग में लता में पनपी बुद्धिवादिता, बंषीलाल के अपाहिज होने पर कुछ समय के लिए अदृष्य–सी हो जाती है और उसका हृदय–पक्ष अपना वास्तविक स्थान ग्रहण करता है। बंषीलाल की सेवा–सुश्रूसा में लता अपने हृदय–तत्व को साकार करती है परन्तु उसके प्रति डॉ. अमृतराय के आकृष्ट होने पर लता में पुनः बुद्धिवादी भौतिकता जागृत होती है, परिणामतः वह बंषीलाल को एक बोझ और उसके प्रति अपने प्रेम की कोरी भावुकता समझने लगती है। इसके कारण उसमें पुनः अंतर्द्वन्द्व की स्थिति उत्पन्न होती है, जिस में बुद्धिवादिता तत्काल विजयी होती है। और लता बंषीलाल को जहर देकर मार डालती है। इसके बाद जब डॉ. अमृतराय लता के प्रति

अपनी घृणा व्यक्त करता है, तब लता का हृदय तत्व तिल–मिला उठता है और वह बुरी तरह पश्चातत्प होती है। लता का यह पश्चात्ताप उसके अंतर्द्वन्द्व का ही पर्यवसान है, जो अंततः आत्मघात में परिणत होता है। तर्क और सतीत्व की भावना के रूप में लता में मस्तिष्क और मन का ही द्वन्द्व वर्णित हुआ है।

नारी की एक अत्यंत निरादरपूर्ण सामाजिक पहचान '' वैष्या '' के रूप में होती है और स्वंय इस व्यवसाय को अपनाने के लिए विवष नारी भी इस से घृणा करती है। सहृदयता की प्रतिमूर्ति बनकर अपने समस्त परिवेष को प्रभावित करते हुए समुचित आदर पाने की नारी की आकांक्षा पूर्णतः समोचीन है। परन्तु पुरूष की अनियंत्रित सुखा पेक्षी प्रवृत्ती के प्रभाव से अस्तित्व में आधी वैष्या नारी भी आदर की अपेक्षा और निरादर प्राप्ति के रूप में हृदय और मस्तिष्क के द्वन्द्व से ग्रसित है, जिसके बारे में डॉ. बिन्दु अग्रवल का कथन है '' वैष्यावृत्ति नीच, पतित और जघन्य कार्य है इस बात को जैसे सभ्य और कुलीन समाज समझता है वैसे ही वैष्या भी समझती है। इसी कारण उसके मन में हीन–भावना घर कर लेती है। उसकी यह हीन–भावना कभी आत्मग्लानि के रूप में, कभी समाज के प्रति विद्रोह के रूप में और कभी अपने–आपको निर्दोष प्रमाणित करने के रूप में दिखाई देती है।''[1] नारी के मन में घर कर लेने वाली यह हीन–भावना उसके अंतर्द्वन्द्व का ही परिणाम है। इलाचन्द्र जोषी प्रणीत उपन्यास '' पर्दे की रानी '' की निरंजना में यही अंतर्द्वन्द्व लक्षित होता है, जो एक वैष्या पुत्री है। निरंजना का अंतर्द्वन्द्व कभी उसके प्रति आकर्षित पुरूष को तड़पाने में एक मानसिक ग्रंथि बनकर अभिव्यक्त होता है तो कभी आत्म न्यूवता की भावना में परिणत होता है। स्वंय निरंजना के शब्दों में '' मेरे भीतर कई विरोधाभास वर्तमान है, मुझे ऐसा लगता है। कभी–कभी मुझे यह अनुभव होने लगता है कि मेरे मन के मूल केन्द्र के ऊपर बहुत से विचित्र–विचित्र संस्कारों के स्तर एक के उपर एक इस सिलसिले में जमे हुए हैं, और उनमें से प्रत्येक स्तर के तत्व किसी दूसरे स्तर के तत्वों से मेल नहीं खाते। उन सब स्तरों के नीचे मेरा मूल स्वभाव भयंकर भार से दबा पड़ा है मेरी यह मूल प्रवृत्ति कभी भीषण ज्वालामुखी के समान आग के फव्वारे छोड़ती है, और कभी स्निग्न–शीतल जलधारा बरसती है। पर मैं न पहले का कारण जानती हूँ न दूसरे का। मैं अपने भीतर के विचित्र संस्कारों की क्रिया–प्रतिक्रिया की एक कठपुतली मात्र हूँ।[2] इस कथन में '' विरोधाभास '' शब्द अंतर्द्वन्द्व का ही घोतक है और निरंजना जिस मूल केन्द्र का उल्लेख करती है, वह उसका सहज हृदय तत्व है। परन्तु अर्थहीन परम्पराओं से विनिर्मित परतें और बुद्धिवादी प्रभाव से बनी संस्कारों की परतें उसके हृदय तत्व पर क्रमषः जमती जाती हैं, जिनका भार दुर्वह हो जाता है। सामाजिक पहचान के संदर्भ में निरंजना के साथ मानसिक स्तर पर जो अन्याय हो रहा है, वही भावना उसमें विद्रोह की चिन्गारियाँ छोड़ता है, और कभी–कभी प्रेम पिपासा में उसका हृदय अपनी सहज स्थिति में स्निग्धता को पाने लगता है। यद्यपि निरंजना वैष्या नहीं है परन्तु उसके अंतर्द्वन्द्व के मूल में उसके चरित्र पर लगे '' वैष्यापुत्री '' वाले लेबल को फाड़ फेंक देने की भावना ही जागृत प्रतीत होती है।

मार्क्सवादी विचारधारा के साहित्यकार यषपाल को मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की श्रृंखला में एक षिथिल कड़ी के रूप में देखा तो जाता है, परन्तु उन्होंने भी मन (हृदय) और मस्तिष्क के अलग–अलग अस्तित्व को स्वीकार किया है। अपने वृहद उपन्यास '' झूठा–सच'' के द्वितीय खण्ड में उन्होंने एक नारी पात्र डॉ. श्यामा से इस प्रकार कहलवाया, जो प्रेम और दैहिक सुख के संदर्भ में अभिव्यक्त विद्रोही नारी चेतना को रूपायित करता है। डॉ. श्यामा, तारा से कहती है '' तरसना ही प्यार है ? प्यार क्या संतोष नहीं चाहता ? रक्त–मांस का उन्मेष ही सही, पर हृदय और क्या है, मस्तिष्क और क्या है ? शरीर को काटकर परीक्षा करने से तो हृदय में प्यार या मस्तिष्क में विचार रखे हुए नहीं मिलते। प्यार और विचार शरीर का व्यवहार मात्र है।''[1]

मन और मस्तिष्क के द्वन्द्व के संदर्भ में यहाँ विवेच्य उपन्यास '' झूठासच '' नहीं प्रत्युत ऐतिहासिक कल्पना के संबल प्रणीत यषपाल का एक अन्य उपन्यास '' दिव्या '' है जिस में मध्यकालीन भारतीय समाज में नारी के संदर्भ में प्रचलित विकृत परंपराओं और व्याप्त धारणाओं के सजीवचित्र अंकित है। सागलनगर के एक द्विज कुल में उत्पन्न अनिंध–सुन्दरी दिव्या अपने हृदय में पृथुसेन के प्रति उत्पन्न सहज प्रेम भावना के कारण स्वंय को पृथुसेन के समक्ष समर्पित कर डालती है। वह इसे एक सहज मानवीय धर्म मानती है। इस सर्वस्व समर्पण के उपरान्त पृथुसेन युद्ध के लिए प्रस्थान करता है और कन्या रूप में गर्भवती होने के कारण दिव्या को परिवार की तीव्र भर्त्सना सहनी पड़ती है। उस समय उसकी तर्क–बुद्धि उस निन्दा की उपेक्षा करती है। क्योंकि दिव्या उस निन्दा को अपने प्रेमी और नारीत्व का अपमान समझती है। इसी समय उस में द्वन्द्व की स्थिति उत्पन्न होती है। वह विचारती है कि '' क्या पृथुसेन से अनुरा पाप था ? क्या गर्भ धारण करना हो पाप था ? सम्पूर्ण सृष्टि गर्भ धारण करती है। मैंने ही क्या किया–द्विज समाज की आज्ञा बिना गर्भ धारण किया इसी कर्म का यह फल है। क्या कर्म फल देने वाला द्विज समाज ही है।''[1] दिव्या का यह अंतर्द्वन्द्व उसे गृह त्यागने से लेकर दासी बनने तक को विवष करता है। जब वह माता के रूप में पुत्र शाकुल की धुधा शान्त नहीं कर पाती, तब वह हृदयतत्व की प्रेरणा से वैष्या बनने का निष्चय कर लेती है, क्योंकि बौद्ध–विहार में वैष्या को ही शरण दी जा सकती है, जबकि अन्य नारियों को अपने अभिभावकों से इसकी अनुमति लेनी पड़ती है, वैष्या तो स्वतंत्र नारी है। आत्महत्या के प्रयत्न में वह अपने पुत्र को ही खो देती है। जिस पुरूष समाज के अत्याचारों से उसकी यह दुर्गति हुई है, उसी समाज से प्रतिशोध लेने के लिए वह पुनः सागल की नगर–वधू बनती है, तथा अपने संगीत, नृत्य और सौंदर्य के सम्मुख सागल के पुरूष समाज को घुटने टेकन के लिए विवष करती है। यह उसके अंतर्द्वन्द्व में मस्तिष्क की प्रतिक्रिया का परिणाम ही है, परन्तु अंततोगत्वा दिव्या अनुभव करती है कि नारी जीवन में वास्तविक सुख और शांति तभी कदम रख सकते हैं, जब समाज द्वारा प्रमाणित वैवाहिक–सूत्र के माध्यम नारी और पुरूष में पारस्परिक समर्पण हो इसलिए वह शिल्पी मारिष का वरण करती है।

मनोवैज्ञानिक उपन्यास साहित्य के एक अनुपमेय हस्ताक्षर जैनेन्द्र कुमार है। उनकी स्वतंत्रता पूर्ववर्ती रचनाओं में उपन्यास '' कल्याणी '' को नारी के अंतर्द्वन्द्व के संदर्भ में एक अप्रतिम रचना कहा जा सकता है। इस उपन्यास की नायिका और प्रधान पात्र कल्याणी है, जिसके व्यक्तित्व और जीवन शैली में हृदय–तत्व और मस्तिष्क को स्पष्टतः रेखांकित किया जा सकता है। मातृत्व की तीव्र अभिलाषा विषुद्ध हृदय–तत्व की पहचान है। कल्याणी नारी जीवन की सार्थकता को मातृत्व में ही देखती है। उसके ये शब्द बौद्धिकता से प्रेरित आधुनिकाओं के मुह पर लगे जोर–दार तमाचे से प्रतीत होते हैं '' स्त्री की सार्थकता मात्त्व में है। मातृत्व दायित्व है। स्वातंत्र्य स्त्री निपट स्वच्छन्द रहना चाहती है उसके मूल में यही अभिलाषा है कि माता बनने से वह बची

रहे और पुरूष के प्रति उसका प्रेयसी रूप ही प्रतिष्ठित बना रहे लेकिन इससे बड़ी प्रवंचना कोई नहीं है।''[3] इसीलिए वह वकील साहब से स्पष्ट शब्दों में कहती है कि वह मात्र अपने गर्भस्त षिषु के लिए जीवित है, क्योंकि पति द्वारा कई बार प्रताड़ित होने और चारित्र्यक शुद्धता के संदर्भ में लांछित होने के कारण जीवन के प्रति उसका मोह भंग हो जाता है। उसकी दृष्टि में एक विवाहिता भारतीय नारी के लिए डॉक्टरी करना, पैसे कमाना, मोटर चलाना आदि शास्त्र विरूद्ध हैं। जब डॉ. असरानी उससे ऊँची आमदनी के साथ–साथ पातिव्रत्य धर्म निर्वहण की भी अपेक्षा करने लगता है, तब उस में उत्पन्न बंतर्द्वन्द्व की स्थिति अभिव्यंजना पाती है।

कल्याणी का मानना है कि उसकी डॉक्टरी पेषे के कारण उसे कई बार अच्छे–बुरे लोगों से मिलकर काम करना अनिवार्य–सा हो जाता है इसीलिए वह अपने मानसिक संघर्ष से मुक्ति हेतु पति से कहती है '' दोनों में से एक मुझे चुनकर दे दो, पातिव्रत या डॉक्टरी। मैं पति में परायण हो जाऊँ या डॉक्टरी की कमाई करके दूँ। दोनों साथ होना कठिन है।''[1]

पाप और पुण्य जैसी बहु चर्चित वस्तु के आधार पर प्रणीत होते हुए भी भगवतीचरण वर्मा का ऐतिहासिक कल्पना प्रधान उपन्यास '' चित्रलेखा '' अपने कथ्य के उद्घाटन में अत्यंत विलक्षण है। इस उपन्यास की प्रमुख नारी पात्र चित्रलेखा है, जो पाटलीपुत्र की प्रसिद्ध नर्तकी है। उसमें विषुद्ध प्रेम को साकार करने वाला हृदय तत्व है और राज दरबार में अपनी विद्वत्ता की धाक जमाने वाले योगी कुमार गिरी को पछाड़ सकने की अद्भुत तर्क बुद्धि भी। लेखक ने चित्रलेखा के चरित्र में थोड़े से समय के लिए अंतर्द्वन्द्व की स्थिति की उत्पन्न कर दिया। चित्रलेखा सामंत बीज गुप्त के विलास मंदिर में पहुँचकर भी बीजगुप्त के प्रति विषुद्ध प्रेम–भावना ही रखती है। जब सम्राट चन्द्रेगुप्त के दरबार में कुमारगिरि अपने अहं का प्रदर्षन करने लगता है, तब चित्रलेखा से रहा नहीं जाता। वह अपने ज्ञान और मस्तिष्क के बल–बूते उसे पराजित कर देती है, लेकिन इसके उपरांत ही उसमें द्वन्द्व के संकेत मिलने लगते हैं। उसके इस अंतर्द्वन्द्व में अन्य घटनाओं का भी थोड़ा बहुत योगदान रहता है।

वह अपने प्रिय बीजगुप्त और उसकी भावी पत्नि यषोधरा के वैवाहिक जीवन को मुक्त रखने के लिए दीक्षा के बहाने कुमार गिरि के आश्रम में पहुँच जाती है, परन्तु वहाँ वह अपने द्वन्द्व से मुक्ति पाने के लिए कुमारगिरि के सम्मुख स्वीकार करती है कि वह उससे प्रेम करने के लिए ही आयी है।

आश्रम में चित्रलेखा का चारित्र्यक पतन होता है, परन्तु वह अपने द्वन्द्व से मुक्त नहीं हो पाती है, क्योंकि एक ओर बीजगुप्त का विषुद्ध प्रेम, तो दूसरी ओर दीक्षा की आत्म–प्रवंचना उसे सतत् अषांत करते रहते हैं। उपन्यास के अंत में चित्रलेखा अपना सर्वस्व त्यागकर अतीत के लिए पश्चात्ताप करती हुई भिक्षुणी बनकर बीजगुप्त के साथ निकल पड़ती है।

दैहिक अतृप्त भावना से विचलित नारी का हृदयतत्व रात्रि की प्रतीक्षा करता है परन्तु उस स्थिति के फलीभूत होने से पूर्व ही मस्तिष्क की कठोरता उसे कुचल देती है। नीलमणि के बारे में डॉ. सूतदेव हंस का कथन है–'' नीलमणि का मन अचेतन और अवचेतन के भीषण द्वन्द्व में ग्रस्त है। नारी मनोविज्ञान की यह सजीव प्रतिमूर्ति है। मन और मस्तिष्क, प्रेम और अधिकार, भावना और संस्कार की युगल प्रवृत्तियाँ इसके व्यक्तित्व में सबलता से कार्यषील है।''[1] नीलमणि का सहपाटी विनय जब उसे विवाह से पूर्व प्रेम और परिचय की अपेक्षा विवाहोपरांत परिचय और प्रेम के महत्व के बारे में बताता है, तब नीलमणि में बौद्धिकता का मोहभंग हो जाता है और द्वन्द्व मुक्त एक सहज पत्नि के रूप में वह अपने पति को समर्पित होती है।

नीलमणि की मानसिक दुविधा के मूल में उसके मस्तिष्क द्वारा हृदय पर डाला जाने वाला वह दबाव है, जो उसे जीवन की सहज धारा में सानंद बहने नहीं देता इसलिए वह अपने मस्तिष्क के बलबूते जीवनधारा की प्रतिकूल दिषा में तैरने का प्रयत्न कर उसमें विफल होती है। वैवाहिक संस्था पर प्रष्न चिह्न लगाने के माध्यम नीलमणि को तर्क–बुद्धि अपने महत्व की घोषणा तो कर पाती है, परन्तु वह हृदय में उफनने वाली सहज प्रेम–भावनाओं को अवरूद्ध करने के यत्न में टूटकर बिखर जाती है

इसलिए नीलमणि का अंतस्संघर्ष स्वनिर्मित विडम्बना ही है। इसी प्रकार आचार्यजी के अन्य दो उपन्यास '' हृदय की परख '' और '' आत्मदाह '' में भी नारी का अंतर्द्वन्द्व स्पष्टतः अंकित हुआ है।

'' हृदय की परख '' की सरला नारी सहज प्रेमापेक्षी सरल हृदया है, साथ–ही–साथ उसमें क्रमागत परम्पराओं के प्रति दृढ़ आस्था भी। वह अपनी इस पारस्परिक प्रतिबद्धता के कारण ही सत्यव्रत को तुच्छ वासनाओं से परे रहते हुए आध्यात्मिकता की ओर अग्रसर होने की सलाह देती है। परन्तु ज बवह इलाहाबाद में शारदा के पास रहते हुए विद्याधर से चित्रकला सीखने लगती है, तब अनायास ही उसका हृदय अपनी प्रेमापेक्षी भावना को व्यक्त करने के लिए लालायित हो उठता है। हृदय और मस्तिष्क की इस टकराहट से सरला घबरा उठती है। उसकी इस दषा के वर्णन में स्वंय लेखक लिखते हैं '' उसका ऐसा परिष्कृत मस्तिष्क, ऐसा विस्तृत हृदय, ऐसा अटल निष्चय, ऐसे वेग से उस युवक की ओर बहा जा रहा है। कि स्वंय सरला भी घबरा उठी है। यह युवक नित्य आकर ज्यों–ज्यों कागज पर सरला का हाथ पक्का कराता है, त्यों–त्यों उसका हृदय कच्चा होता चला जा रहा है। जब युवक आता है तो सरला न तो उससे विषेष बातें ही करती है और न उसकी ओर देखती ही है, पर उसके चले जाने पर इस मूर्खता के लिए पछताती है।''[1] सरला अपने इस द्वन्द्व से मुक्ति का एक मात्र उपसय सत्यव्रत के प्रति अपना समर्पण ही मानती है।

अंचल के उपन्यास '' चढ़ती धूप '' की नायिका भीद्वन्द्वग्रस्त है, जिसके मूल में प्रेम और विवाह से संबंद्ध मानसिक और सामाजिक स्थिति विषेषों में विद्यमान असामंजस्य ही है। ममता का हृदय प्रेमी मोहन को समर्पित हो चुका है, जबकि उसका विवाह अल्पषिक्षित श्यामा चरण से संपन्न हुआ है। प्रेम की असफलता और अनिष्चित विवाह के द्वन्द्व को झेलना ममता के लिए बहुत कठिन हो जाता है। इसलिए वह विवाहोपरांत की दैनिक और दैहिक परंपराओं को भी सही ढंग से निभा नहीं पाती है। श्यामाचरण का सामीप्य उसमें घृणा उत्पन्न करने लगता है और दूसरी ओर पति ममता के आचरण पर संदेह करने लगता है। ममता के मानसिक उलझन को सुलझाने के लिए उसका प्रेमी मोहन उससे वचन लेता है कि ममता अपने तन–मन के साथ पति को समर्पित होगी। इसके बदले में ममता कहती है–

'' आज से सारा शरीर मैं उनके आगे फेंक दूँगी, मन–मन–मन के विषय में कोई अंडर टेकिंग देने की सामर्थ्य मुझमें नहीं भैया ? यहाँ मैं विवष हूँ। यही संसार की प्रत्येक सती विवष हो जाती है। यहीं मैं लाचार हूँ। तुम विष्वास करो मैं पूरा यत्न करूँगी कि अपनी संकरी विषयगामिनी वृत्तियों को एकाग्र कर मन के भीतर बहते सारे उल्टे स्त्रोतों को उनकी ओर ले चलूँ।

आज तक उनसे अपने को बचाती फिरती थी। अब अपने से अपने को बचाऊँगी।''[1] ममता के इन शब्दों में प्रयुक्त विवषता और लाचारी उसके अंतर संघर्ष को अभिव्यंजित कर रहे हैं। प्रेम के संदर्भ में यहाँ अंचल ने जिस नैतिक मान्यता की पुष्टी की है, वह कुछ–कुछ जैनेन्द्रीयता–सी प्रतीत होती है, क्योंकि ममता के माध्यम अंचल ने प्रेम और विवाह की इस समस्या को अनेक सत्तियों की समस्या के रूप में चित्रित किया है। ममता के शब्दों में उल्टी बहने वाली जिन धाराओं का उल्लेख हुआ है, वे प्रकारांतर से हृदय और मस्तिष्क की पारस्परिक विपरीत गति से ही संबंद्ध है। अतः ऐसी स्थिति में द्वन्द्व भी अनिवार्य है। प्रेमी मोहन की मृत्यु का समाचार मिलने पर पति के होते हुए भी ममता का सिंदूर पोछलेना, चूड़ियाँ फोड़ डालना, उसके अंतर्द्वन्द्व की भीषणता के परिचायक हैं। यह आत्मघात तक कर लेना चाहती है परन्तु मोहन के क्रान्तिकारी मित्रों के साथ उसकी समझौता वादिता का प्रतीक है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. जैनेन्द्र के उपन्यासों के नारी चरित्रों का मनोवैज्ञानिक धरातल – बिजली प्रभाप्रकाश. पृ. सं. 48 इकाई है।

2. '' प्रेमचन्द्र : घर में '' – शिवरानी देवी प्रेमचन्द –– पृ. सं. 131

3. '' हिन्दी उपन्यास में नारी चेतना '' – – बिन्दु अग्रवाल पृ.सं. 42

4. '' गोदान '' – – प्रेमचन्द – – पृ.सं. 168

5. '' गोदान '' – – प्रेमचन्द – – पृ.सं. 167

6. '' गोदान '' – प्रेमचन्द –– पृ.सं. 169

7. '' हिन्दी उपन्यास में नारी चेतना '' –– डॉ. बिन्दु अग्रवाल –– पृ. सं. 172

8. '' पर्दे की रानी '' –– इलाचन्द्र जोषी –– पृ.सं. 97

9. '' झूठा सच : भाग–2 '' (देष का भविष्य) – यषपाल – पृ.सं. 489

10. '' दिव्या '' – यषपाल, पृ.सं. : 124

11. '' कल्याणी '' जैनेन्द्र कुमार, पृ.सं. 150

12. – वही –– पृ.सं. 80

13. – वही –– पृ.सं. 71

14. '' कल्याणी '' – जैनेन्द्र कुमार, पृ.सं. 41

15. '' जैनेन्द्र के उपन्यासों के नारी चरित्रों का मनोवैज्ञानिक धरातल ''–बिजली प्रभा प्रकाष, पृ.सं. 157